

बेगम अख्तर यादों के आइने में

– डॉ० योगेश प्रवीन

बहुत पहले बेगम अख्तर साहिबा ने एक दादरे में यह बंद लगाकर गाया था –

शबे फिराक जो पूछी ये मैंने नींद से बात
कि तू भी अब नहीं आती है, मुझ गरीब के पास
तो हँस के कहने लगी नींद मुझसे सुन कमबख्त
मैं तेरे पास रहूँ या तेरे नसीब के पास

और इस तरह अपने सोए हुए नसीब को उन्होंने अपने मुस्तकिल इरादों और अपनी जवाहराती आवाज से जगा लिया था।

कौन नहीं जानता कि एक दिन वो था जब कलकत्ता के अल्फ्रेड हॉल में वे पहले पहल गया से आकर पेश हुयीं थी तो उनकी झिझक के लिए बीस मिनट तक सिर्फ साज बजते रहे थे और फिर वो दिन भी हुआ कि जब रूस और अफगानिस्तान की मिट्टी पर उन्होंने भारतीय संगीत की रुहानी बरखा बहा दी थी।

सन् 70-72 में जब मैं उनके फानब्रेक एवेन्यू वाले घर में नए दौर की सह-सम्पादक शमाँ काकोरवी के साथ जाया करता था तो देखता था कि जिस तरह वो आलाप मुरकियों से तुमरी, गजलें, सजाती थीं उस से ज्यादा अपने घर को आरास्ता रखने में लगी रहती थीं। घरदारी में भी बड़ी निपुण थीं। पान खाने का शौक था तो गिलौरियाँ बनाने का हुनर भी उन्हें खूब आता था। उनके जैसा खूबसूरत बीड़ा बाँधने वाला मैंने आजतक नहीं पाया। ड्रॉइंगरूम की सजावट बेहद नफीस थी जो अवध के दीवानखानों की तर्ज पर हुआ करती थी। शीशम के तख्त पर बिछे मोर पंखी पर्शियन गलीचे पर वो गुलाबी किमखाबी मसनद के सहारे बैठी होती थी और सामने शून्य में न जाने क्या ढूँढा करती थीं। एक तरफ मेज पर बहुत बड़ा मगर पुराने वक्त का शानदार ग्रामोफोन रखा रहता था और दूसरी तरफ अखरोट की कामदार मेज पर ऊँचा सा चाँदी का खासदान सजा रहता था। छत पर काँच की फिरोजी, फालसई बिल्लौरी हाण्डियाँ रोशन रहती थी मगर उस मेहमानखाने की खास सजावट और महकीले आदर उनके कहकहे हुआ करते थे।

बेगम साहिबा खुशबू को रूह का लिबास मानती थीं। अपने दौर के हर फैशन और तकनीक को जानने, अपनाने वाली बेगम अख्तर दिल से बेहद परम्परावादी थीं। ऐन शादी के बाद की एक बड़ी सी

तस्वीर में वो अपने मियाँ के साथ बैठी हुई थीं। लखनवीं चलन का गोटे बनत से लदा-फँदा भारी लहंगा, कामदार कुरती और उस पर चुना हुआ किरन कारचौबी का दुबट्टा ओढ़े वो चौथी की सी दुल्हन लगती थीं। गले में गुलबंद, तौक चन्दनहार, कानों में झुमका करनफूल, नौ नगे के कंगन माथे पर चाँदतारी का टीका और झूमर के जैसे चौदहों चाँद बँधे पड़े हों।

जहाँ तक गज़ल की पंखुड़ियाँ खोलने का सवाल है उसके हर नाजुक अंग को आवाज का सही रंग देना, उनकी अपनी ईजाद थी। गज़ल को गाने के बजाय धुन में रागदारी देकर पढ़ना उस दौर में सिर्फ उन्हें ही आता था और फिर जिगर मुरादाबादी के कलाम तो उनकी खास पसंद थे।

इस दिल के धड़कने का कुछ तो है सबब आखिर

या दर्द ने करवट ली या तुमने इधर देखा

बहुत कम लोग जानते हैं कि बेगम साहिबा को लतीफागोई में भी कमाल हासिल था। इस सिलसिले में एक प्रोग्राम में लखनऊ यूनिवर्सिटी ने उन्हें प्रथम पुरस्कार भी दिया था। सबको जाबजा हँसा कर हमेशा खुश रखने वाली अम्मी अक्सर अकेले में रोया करती थीं।

आप कहते थे कि रोने से न बदलेंगे नसीब

उम्र भर आप की इस बात ने रोने न दिया।

वो अब्बासी साहब को सबेरे तड़के उठा देतीं 'उठिए मियाँ नमाज़ का वक्त निकला जा रहा है' और तबतक वो जानमाज़ पर आते तो क्या देखते हैं कि खुद मजे में सो रही हैं। अम्मी साल में एक बार फ़ैजाबाद जरूर जाती थी, बारादरी मोहल्ले से उनका ताजिया उठता था। साहिबगंज मोहल्ले में मैंने अपनी माँ के साथ उन्हें अपने ताजिए के आगे-आगे सोज पढ़ते हुए देखा है। उस वक्त उन पर काली फर्दीदार साड़ी खूब फबती थी।

शबे बारात की रात वो लखनऊ में हरदोई रोड पर पसंदबाग जाकर अपनी माँ के मजार पर चरागाँ करती थीं। सावन के महीने में कजरी, बारामासा और फागुन की ऋतु में होरी धमार गाने आकाशवाणी पर उन्हें जरूर बुलाया जाता था। सिनेमा में काम कर चुकी थी लेकिन फिल्मी गानों में उन्हें कोई लाग लगाव नहीं था। सिवा इसके कि मदन मोहन साहब की फिल्मी बंदिशें बड़े प्यार से सुनती थीं।

लखनऊ रेडियो पर ही मदन मोहन ने उनसे गज़ल को बरतना सीखा था। उन दिनों वहाँ तलत महमूद, मुजदिद नियाज़ी और हरीश भारद्वाज भी होते थे। पाकिस्तानी गायक मेंहदी हसन साहब ने खुद मंजूर किया है कि गज़ल गाने की सलाहियत उन्होंने बेगम साहिबा से ही पाई।

बचपन में बेगम साहिबा दुलार से बिब्बी कही जाती थी। सुबह की किरनों ने उन बे शुमार उजालों का पता दे दिया था जो आने वाले कल की रौनक बनने वाली थे। बचपन में ही वो थियेटर की एक ऐक्ट्रेस "चन्दा" पर दिलोजान से फिदा हो गयीं, जो साहिबे सूरत भी थी और बेहद सुरीली भी। नौकरानी अमानत के साथ छिप-छिप के चन्दा को देखने सुनने जाया करती थी, बस यहीं से चिराग ने आग पायी थीं। पपीहारी आवाज और गाने का हुनर तो वो लेके पैदा हुई थीं। उनके इन सपनों को संवारा उस्तादी तालीम ने, फिर इस तरह संगीत की साधना परवान चढ़ने लगी। बाद में वो 18वीं सदी और 19वीं सदी की परम्परागत शैली के लखनऊ घराने की जीनत बनी।

इस बीच वक्त ने कुछ ऐसी करवट ली कि किसी दुश्मनी में उनका घर जल गया। बाप पहले ही मुहँ मोड़ चुके थे गरज ये कि परिवार तबाही के कगार पर था। बेज़र (धनहीन) इन्सान, बेपर का परिन्दा होता है। यही दर्द लिए, एक मुँहबोले भाई का सहारा लेकर उनकी माँ, बिब्बी के साथ फैज़ाबाद से निकली थी, गया की तरफ। आवाज़ का ये सफर कुछ आसान नहीं था, सिवा इसके कि कोई मंजिल की तलाश ने उन्हें कभी दम लेने न दिया।

ज़िन्दगी में सबसे बड़ा काम होता है खुद को पा लेना। और कलकत्ते में जब उनकी पहली रिकार्डिंग हुई तो उन्हें लगा कि बिब्बी के सामने अख्तरी आकर खड़ी हो गयी है इस गज़ल के साथ—

वो असीरे दामे बला हूँ मैं, जिसे सांस भी तक न आ सके

वो काफिले संजरे नाज़ हूँ, जो न आँख अपनी उठा सके

ये जो पहली गज़ल रेकार्ड की गयी वो बाद में फिल्म "एक दिन की बादशाहत" में भी शामिल थी जो कलकत्ते में ही बनी थी। सन् 1944 में कलकत्ते के ही एक अचानक प्रोग्राम में वो मजमे के बीच पहले पहल पहचानी गयीं और फिर दुनिया उनकी दीवानी हो गयीं, जहाँ उन्होंने ऊँची तान में गाया था—

तूने ऐ बुते हरजाई, ये कैसी अदा पाई

तकता है तेरी सूरत, हर एक तमाशाई

यहीं भारत कोकिला श्रीमती सरोजनी नायडू उनकी प्रशंसक बन गयीं। उनके द्वारा उपहार स्वरूप दी गयी खद्दर की एक साड़ी वो सदा अपने साथ संजोए रहीं। उनकी आवाज में जो अनुनासिका स्वर था बड़ा ही सुहाना था और फिर खरज की पत्ती तो उनके गले की जीनत ही थी जो लाखों में किसी एक को ही नसीब होती है। इस तरह उनकी आवाज का ऐब भी, हुनर बन चुका था।

सन् 1938 में उनको बम्बई बुला लिया गया जहाँ उन्होंने मुमताज़ बेगम, नसीब का चक्कर आदि फिल्मों में काम किया। नल दमयंती, नाचरंग, दानापानी (मीना कुमारी – भारत भूषण – 1953) और एहसान (नलिनी जयवंत – अजीत – 1954) में उनका प्ले बैक भी था। गाने थे – “ऐ इश्क मुझे और तो कुछ याद नहीं हैं” –(दानापानी), “ हमें दिल में बसा भी लो” – (एहसान)।

थियेटर के ज़माने में उन्होंने दिल लखनवी के एक नाटक “नयी दुल्हन” में भी काम किया था और कहना न होगा कि ये नाटक सालों साल चलते रहते थे, लेकिन अब वो इन सबसे किनाराकशी करने लगी थीं, अब तो या गाना था या वो।

हैदराबाद दरबार और रामपुर ने उन्हें सर आँखों पर बिठाया, लेकिन उनका दिल तो लखनऊ में लगा था। 1938 में ही वो आइडियल फिल्म कम्पनी के लिए लखनऊ आ गयी थीं। सन् 1941 में महबूब साहब के बुलावे पर उन्हें फिल्म रोटी के लिए फिर बम्बई जाना पड़ा था उस सुप्रसिद्ध फिल्म में उनके साथ, चन्द्रमोहन, सितारा और शेख मुख्तार भी थे। अब बम्बई से उनका जी उकता गया था लखनऊ ने उन्हें फिर बुला लिया था। यहीं उनकी शार्दी काज़ी इश्तयाक अहमद अब्बासी साहब से बात की बात में हो गयी और फिर तो गाना बजाना दर किनार गुनगुनाना भी छोड़ दिया था। इस तरह चार साल तक उन्हें न किसी ने देखा और न सुना। जिसने रेडियों के प्रबुद्ध रचनाकार जीत जरधारी साहब द्वारा किए गए आकाशवाणी इन्टरव्यू के सारे सवालों का पहले एक ही जवाब दिया था ‘गाना....गाना....बस गाना’ उनको ही गाने बजाने से खबरदार किया जाना भला क्या बरदाश्त होता।

लखनऊ में वो पहले अख़्तर मंजिल में फिर चाइना बाजार गेट के पास जहाँगीराबाद पैलेस में रहीं, बाग मुन्नु की मतीन मंजिल में भी रहीं और बाद में फान ब्रेक ऐवन्यू उनका मुस्तकिल मकाम बना। वक्त ने करवट ली और 25 सितम्बर, 1948 के दिन आकाशवाणी लखनऊ के स्टूडियो में वो फिर बरामद हुईं। इस खुशनाम घटना के पीछे स्टेशन डायरेक्टर एल.के. मेहरोत्रा तथा असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर सुनील बोस साहब की कामयाब कोशिश थी और उसी रेडियों माइक ने उन्हें “अख़्तरी बाई” से “बेगम अख़्तर” बनाया इनके साथ सारंगी नवाज़ गुलाम साबिर साहब तो साथ निभाते ही थे तबले की संगत के लिए मुन्ने ख़ाँ पर ही भरोसा करती थीं। शहर की बड़ी-बड़ी महफ़िलों में उनका होना इज्जत की बात समझी जाती थी, सिटी

स्टेशन के करीब राजा महमूदाबाद के जश्ने शादी में वो गौहर जान, जद्दन बाई, रसूलन बाई, वहीदन बाई के साथ बैठी थी तो जनरल हबीबुल्ला और बेगम हामिदा जी की शादी में भी जलवा अफरोज़ थी। सन् 1951 में उनकी माँ मुश्तरी देवी ने दुनिया से परदा किया तो वो सदमें में पहुँच गयीं। पसन्द बाग के बीच उनकी कब्र के पास जाकर बैठी रहती थी, माँ बेटी में इतना अटूट लगाव था।

उन्होंने आवाज की कभी कोई एहतियात नहीं की, बड़ी बदपरहेज़ी की, बड़ी लापरवाहियाँ बरतीं। वो आवाज़ की ताबेदार नहीं रही, लेकिन मुकद्दर ये कि आवाज़ हमेशा उनकी ताबेदार रहीं। उन्होंने मीर, गालिब, जिगर, फ़ैज़, या शकील को ही नहीं गाया, बहजाद और सुदर्शन फाकिर की गज़लो को भी ये एजाज़ दिया। गज़लों के बोल और जज्बात के लिहाज़ से उन्हें मुनासिब रागों में उठाना ही उनका कमाल था। अपनी तपस्या और शैली की सहजता की बदौलत उन्होंने सेमी क्लासिकल म्यूजिक को ज़मीन से उठाकर आसमान पर बिठा दिया था। ठुमरी दादरे में भी वे बेमिसाल थीं गज़ल की तो मिल्कियत उनके साथ थी ही, जब वो गाती –

फूल खिले है, गुलशन गुलशन

लेकिन अपना अपना दामन

तो इस गज़ल में वो जब जब, दामन कहती है तो अलग अलग अर्थों के साथ होता है कभी नाउम्मीदी, कभी बदकिस्मती, कभी बेचारगी तो कभी शिकायतन। ताबे उम्र वो उस बेड़िन की आवाज को कानों में रखे रहीं जिसने कभी गाया था “पूरब देश बंगाले से ननदोई हमारे आए हो।” ये वो बीज था जो लोक शैली की बाँकी बानगी लेकर उनके दादरों में खूब फला फूला। जाने माने फिल्मकार सत्यजीत रे की फिल्म “जलसाघर” में उनका किरदार आज भी उस भव्य अदाकारी का आइनेदार है। बड़ी फनकार होने के साथ साथ वो अपनी शख्सिसत नफासत, रहन-सहन और तौर तरीको में भी बहुत शानदार थी। हर एक के सुख-दुख में बड़ी मोहब्बत के साथ शरीक होती थीं। इनमें सबसे हसीन थी उनके अन्दर की औरत जो शराफ़त, मिलनसारी, दरियादिली, और दर्द मन्दी में आगे-आगे थी। एखलाख ऐसा कि दूर-दूर महके, हर अमीर गरीब उनका अपना हो जाता, हर छोटा उनमें अपनी माँ की छवि देखता और उन्हें “अम्मी” ही कहता। आकाशवाणी पर जिस शानओ-शफकत से आतीं कि लोग आज तक नहीं भूले हैं। कार में अपने साथ बास्केट लातीं, थरमस में चाय होती और साथ में नफीस क्राकरी और नमकीन बिस्किट फिर क्या स्टूडियो में सभी, क्या साजदार और क्या कामदार एक रंग में शामिल हो जाते और उनकी चाय के तलबगार बन जाते। लखनऊ के भातखण्डे संगीत महाविद्यालय में वो एक अरसे तक विजीटिंग प्रोफेसर रहीं, जपानी जार्जेट पर सुहानी चिकनकारी की साड़ी पहने कार से उतर कर जब दाखिल होतीं तो शमीनेनाज

की गमक लोगों के दिलो दिमाग पर छा जाती थीं जो उनके आँचल से लपकती थी। जैसे उनकी गज़ल गायिकी का अपना अलग अन्दाज था उसी तरह उन्होंने तुमरी में पूरब अंग और पंजाब अंग का मेल करके एक नया रंग ईजाद किया था जो उनकी अपनी देन थी। लखनऊ के बर्लिंगटन होटल में अस्थाई स्टूडियो बनाकर ग्रामोफोन कम्पनियों ने उनके चार सौ (400) से ज़्यादा रेकार्ड बनाए थे। लखनऊ आकाशवाणी के स्टूडियो में एक रोज़ उनके चले जाने के बाद जड़ाऊ पन्ने का एक भारी झुमका कालीन के किनारे पड़ा मिला जाहिर है कि वो ड्यूटी आफिसर के पास पहुँचा और उन्हें ये समझते देर न लगी कि ये बेशकीमती 'झुमका-कर्णफूल' और किस का हो सकता है। उन्होंने फौरन फोन किया तो घर से बोली "हम तो समझे थे कि गया सो गया, लेकिन ये उसकी तकदीर थी कि जो जुदा न हो सका, खैर मैं खुद गाड़ी से आ रही हूँ लेने के लिए"

कुछ देर बाद वो ड्यूटी रूम में थी। ड्यूटी आफिसर ने कहा "आपने नाहक ज़हमत की, हम घर तक भिजवा देते।"

तो बोली – "नहीं भई, किसकी जान फालतू है जो इस जोखिम को ले निकलता" और गहना पर्स में डालकर मुस्कुराती हुई लौट गयीं। उनकी प्रधान शिष्याओं में शान्ती हीरानंद, अंजली बनर्जी और रीता गॉंगुली हैं जो उस खंजर की धार को आज भी अपने साथ लिए हुये हैं। हारमोनियम, सिगरेट, पान और चाय बेगम साहिबा की चार कमज़ोरियाँ थीं। अपनी सुप्रिया शिष्या रीता गॉंगुली के साथ जब-जब कहीं रहीं अपनी पसन्दीदा चाय उनसे ही बनवातीं और जब प्याला सवरे की किरन के साथ अम्मी के होंठों तक पहुँचता तो बेसाख्ता कहती।

"मजा आ गया, कमबख्त लड़की, दुआएँ ले जाती है सुबह सुबह"

जो आवाज़ पहले शोलों की तरह लपकती थी और अब रियाज़ के साथ समन्दर की तरह गहरी हो चुकी थी। बेगम अख़्तर अपने फन और वतन का सितारा बन चमक उठी तो उनकी कदर हर कहीं होने लगी थी और अब वो लखनऊ या हिन्दुस्तान की ही नहीं सारे जहाँन की अज़ीम हस्ती थीं।

उन्होंने अपने हिन्दुस्तान के हर गोशे में ही नहीं गाया, पाकिस्तान, नेपाल, अफगानिस्तान, रूस, यूरोप आदि देशों में भी अपनी कला का प्रदर्शन किया। संगीत अकादमी के सम्मान के अलावा उन्हें पदमश्री और पदम् भूषण से भी नवाजा गया। फिर एक दिन वो भी आया जब वक़्त के बेदर्द हाथों ने मलकए गज़ल को 30 अक्टूबर, 1974 को अहमदाबाद की एक गुलज़ार अंजुमन के बीच से उठा लिया था और तब

बेगम का पार्थिव शरीर लखनऊ लाया गया और वो अपनी वसीयत के मुताबिक लखनऊ के टाकुरगंज के करीब पसन्दबाग में अपनी माँ के पहलू में दफन हुई।

*लहद में सोए है, छोड़ा है शहनशीनों को
कज़ा कहाँ से कहाँ, ले गई मक़ीनों को*